सूनी घाटी का गीत

[रचना-काल : १९५७-१९५८]

प्रभातरंजन

प्राप्ति-स्थान

प्रकाशक : सावित्रीरानी
कल्पना-निकुंज, इलाहाबाद

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५९

मा—
को

वक्तव्य

मैं आपसे,—आप चाहे जो भी हों, पर जो कभी न कभी मेरा यह छोटा-सा काव्य-संग्रह पढ़ेंगे—कुछ बातें कहना चाहूँगा। ये बातें और विचार मेरे हैं। मैं किसी समूह या दल को प्रकट नहीं करता। साथ ही, मैं यह भी नहीं कहता कि ये सब बातें बिल्कुल नयी हैं और इन्हें मुझसे पहले किसी और ने नहीं कहा। यह बिल्कुल संभव है कि किसी दल या समूह की कुछ इकाइयाँ इन्हें पहले से ही मानती हों। पर यहाँ इन बातों का महत्व केवल इतना ही है, कि मैं इन्हें मानता हूँ। इस छोटे से वक्तव्य में मैं केवल अपनी कविताओं तक ही सीमित नहीं हूँ। ये सब मेरी कविताओं के बारे में घटती हों, यह आवश्यक नहीं है। पर कहीं न कहीं ये मुझसे जुड़ती अवश्य हैं। और यह भी संभव है कि मैं अपनी कविताओं के समस्त तत्वों से परिचित न होऊँ। अब जब मैं आपके सम्मुख यह छोटा-सा काव्य-संग्रह प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, तो मेरे सामने कई प्रश्न हैं—समसामयिक कविता से सम्बद्ध—और क्योंकि मैं भी उसी दौरान से गुज़र रहा हूँ, इसलिए उन प्रश्नों से अधिक समय तक मुँह नहीं मोड़ सकता। कभी न कभी यह स्थिति मेरे सामने अवश्य आएगी। मैं चाहे कुछ अंतिम रूप से न भी कह पाऊँ, तब भी मुझे अपनी स्थिति अवश्य साफ़ रखनी है।

आधुनिक या समसामयिक कविता, केवल हमारी काव्य-परंपरा की विकसित तथा अधुनातम अवस्था की ही अभिव्यक्ति है। मैं समझता हूँ कि कोई यह नहीं चाहेगा कि इस मीठे

सोते का प्रवाह किसी भी एक मनोरम पहाड़ी के सीमित घेरे में घिर कर रह जाए। उसकी अनवरत प्रवहशीलता आवश्यक है; क्योंकि उसमें उसका विकास तथा जीवन निहित है। जब किसी वस्तु का विकास नहीं होता तब या तो वह मर जाती है या बेकाम हो जाती है। पर इस समय इसका इतना अनावश्यक शोर इसलिए है कि संभवतः प्रथम बार इतने परिवर्तन एक साथ कविता में महसूस किये गए हैं तथा उन्हें क्रियात्मक रूप भी दिया गया है। आप इस जीवन तथा विकास में ह्रास भी देख सकते हैं। अपनी-अपनी दृष्टि है। जीवन की परिस्थितियाँ और उनका आकस्मिक बोध—जैसे उगते-उगते बीज उगता है—नया वातावरण, अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ता, जागरूकता, व्यक्तित्व, प्राचीन परम्पराएँ, ये सब किसी भी प्रकार की कविता की रचना-प्रक्रिया को भीतर से गंभीर रूप से प्रभावित करती है। यों अच्छी रचनाएँ बहुत कम लिखी जाती हैं। और अपने पक्ष से जब हम कोई बात कहते हैं तो वह केवल उन प्रधान वस्तुओं की ओर ही संकेत करती है। कूड़ा, या केवल कौतुक मात्र छाँट कर उदाहरण देना यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। जब भी कोई नयी बात कहीं होती है, तब केवल आनंद लेने के लिए उसे लांछित करने वाले भी, अत्यन्त निकृष्ट समझने वाले भी, दलबन्दी द्वारा उसका विरोध करने वाले भी, उस पर तर्क-वितर्क करने वाले भी, उसके विकास में योग देने वाले भी, उसे गम्भीरता से ग्रहण करके आगे बढ़ाने वाले भी, यानी कि हर प्रकार के व्यक्ति उस परिवर्तन-चक्र में होते हैं, और ये सब के सब आवश्यक हैं; क्योंकि वे उसे गति देते हैं। और यह तो एक बहुत पुरानी बात है कि कोई भी वस्तु पूर्ण नहीं है, वह पूर्ण हो ही नहीं सकती, कुछ न कुछ अपूर्णता उसमें अवश्य रह जाएगी, और हर जगह यह एक तीखा व्यंग्य है कि हम उस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए जीवन भर संघर्ष करते हैं, जो कहीं नहीं है। पर अपूर्णता एक संघर्ष को

जन्म देती है और इन दोनों के बीच की स्थिति ही जीवन है, जिसमें प्रत्येक वस्तु जीवित है। नयी, आधुनिक या समसामयिक कविता की भी यही स्थिति है। बँधाव आ जाने पर उसे भी संघर्ष का सामना करना पड़ेगा। तब फिर और नये मूल्यों की स्थापना तथा रूढ़ि बन गए क्रमों का विनाश, निश्चित है। वैसे भविष्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और न वह यहाँ अभीष्ट है। श्रेष्ठ काव्य के लिए मात्र मेरे या अन्य किसी के कथन पर जाने की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी रचनाओं के अध्ययन की। नयी कविता का कथ्य इतना कठिन नहीं है कि कोई ओर-छोर दीखे ही नहीं, जब कि उसे आप देखना चाहें। कठिनाई उसमें नहीं है। संभव है यह बात उसकी 'टेकनीक' में हो। और उसके लिए आवश्यक है कि आप उन्हीं सब माध्यमों से वहाँ पहुँचें, उन्हीं पगडंडियों से वहाँ जाएं, जहाँ से नया कवि पहुँचता है।

नयी कविता का आंतरिक संघर्ष अयथार्थ और सीमित यथार्थ से है। वह असीमित यथार्थ को वाणी देने का प्रयत्न कर रही है। वह काव्य को नये ढंग से प्रकाशित करती है। कविता के नये साँचे बनाती है। वह व्यक्ति से कहीं परे नहीं है। वह रोमांस का भी विरोध नहीं करती; पर केवल बचकाना रोमांस और नख-शिख-वर्णन या उसमें अतिलीनता ही उसका ध्येय नहीं है। यदि कोई ऐसा व्यक्तित्व हो जो रोमांस को नये ढंग से प्रकाशित करे, तो नयी कविता उसे स्वीकार करेगी।

नयी कविता के सामयिक मूल्यों में से अंत में कुछ का नष्ट होना निश्चित है--ऐसे मूल्यों का जो नारेबाज़ी के अंतर्गत आते हैं—केवल 'स्लोगन्स' के रूप में। रही सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा दार्शनिक एप्रोच की बात, तो नयी कविता समग्रता-समन्वित भावनात्मक-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्तिविशेष की दृष्टि है। दार्शनिक दृष्टिकोण के लिए मैं केवल कुँवरनारायण को देख जाने का

अनुरोध करूँगा। अकेला 'चक्रव्यूह' इन सब बातों का उत्तर है। नयी कविता किस ओर जा रही है, यह तो भविष्य बताएगा; पर उसकी सामयिक प्रगति और व्यवस्था कोई अधिक आशंकासूचक तथा संदेहास्पद नहीं है। हम नयी कविता के प्रति आश्वस्त न भी हों, तो कविता के प्रति हमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए। आंदोलन तो सदैव होते रहते हैं; पर आंदोलन के केन्द्रों से हमें निराशा क्यों होनी चाहिए? कविता तो हर ज्वार के उपरान्त, मिस्र के पवित्र पक्षी की भाँति, फिर-फिर अपनी राख में से नया जन्म लेगी।

आधुनिक कविता परम्परा से एकदम विच्छिन्न नहीं है। कोई भी वस्तु सम्पूर्णतया अपनी परम्परा से कभी विच्छिन्न नहीं हो सकती। कुछ व्यक्तिविशेष हो सकते हैं जो अपने को पृथक् समझें; पर उनका अस्तित्व कालान्तर में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखेगा। परम्परा से विच्छिन्न होने की बात उसी तरह की है कि जैसे कोई आधुनिक बेटा कहे कि मैं अपनी पिता-परम्परा से सम्पूर्णतया विच्छिन्न हूँ। यह आधुनिकता हो सकती है; पर तथ्य भी हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारी प्राचीन काव्य-परम्परा इतनी सम्पन्न, महत् और विशाल है कि हम उससे एकदम अलग होने की बात सोच ही नहीं सकते। उसे हम बिल्कुल नये अर्थों में काम ला सकते हैं, उसमें और अधिक वृद्धि कर सकते हैं, उससे प्रश्न कर सकते हैं, उसके मूल्य बदल सकते हैं,—जो नयी कविता ने किया है और कर रही है तथा करेगी—और इस क्रिया में थोड़ी तोड़-फोड़ आवश्यक हो ही जाती है और वह एक सीमा तक क्षम्य भी है। पर यह भी संभव है कि अंततोगत्वा हम भी वही कहलाएँ, जो हम अपने पूर्वजों को कहते आए हैं। पर हमें विश्वास है कि हम उसे अच्छी तरह सुनेंगे; क्योंकि विरोध ने हमें एक महत्वपूर्ण धैर्य-भाव भी दिया है।

कभी-कभी यह प्रश्न भी किया जाता है कि नयी कविता की विशेष शक्तियाँ कौन सी हैं? मैं समझता हूँ जिस अनुपात में यह

ऐतिहासिक क्रान्ति हुई हैं, उस अनुपात में अभी सृजन नहीं हुआ है जो क्रान्ति से सदैव अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ अच्छे कवियों की कविताएँ अभी संग्रह-रूप में नहीं आ पाई हैं। इस संदर्भ में श्री 'अज्ञेय' अधिक सौभाग्यशाली हैं। उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जब कि श्री शमशेरबहादुर सिंह जैसे कवि का एक भी संग्रह प्रकाशित नहीं है—गजानन माधव मुक्तिबोध और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि की रचनाओं की भी यही दशा है। क्या इसके लिए कोई उत्तरदायी नहीं है?

नयी कविता सम्पूर्णतया स्वच्छ नहीं है। उसे बदनाम करने वाले भी बहुत हैं। यों कुछ कमियाँ तो हमेशा, हर जगह, हर वस्तु में होती ही हैं। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि संपूर्णता मृत्यु है। वास्तव में जितने दोष नयी कविता पर लगाए जाते हैं, वे स्थिरता से देखने के उपरान्त बहुत हलके पड़ेंगे। यह तो निश्चित है कि विद्रोह और क्रान्ति के पश्चात् शीघ्र संतुलन लाना बहुत कठिन कार्य होता है और इसी असंतुलन में रचा गया अधिकांश साहित्य नयी कविता के नाम को दूषित करता है या फिर अतिवादी उच्छृंखलता में अधिकतर जो साहित्य लिखा गया वह। अतिवादिता से तो प्रत्येक पाठक को क्रोध आएगा और यह बात नयी कविता में अब तक पर्याप्त मात्रा में रही है। इस माध्यम का अनुचित उपयोग भी ख़ूब किया गया है। प्रश्न दुरूहता या क्लिष्टता का भी है। इसके लिए कौन अधिक दोषी है? कवि? या सौ वर्ष पूर्व की काव्य-परम्परा में जीवित रहने वाला पाठक? यह विचारणीय प्रश्न है। तो क्या कवि सौ वर्ष पुरानी काव्य-परम्परा में फिर लौट जाए या पाठक को ही स्वयं वहाँ तक जाने दिया जाय? मेरी समझ में दूसरी बात ही संगत प्रतीत होती है। होता यही आया है कि मौलिक और क्रान्तिकारी काव्य हमेशा समय से आगे रहा है। सचाई को कम लोग जानें, यह सम्भव है; परन्तु वह केवल

कम लोगों के जानने मात्र से झूठी हो जाए, यह तो समझ में नहीं आता। अधिकांशतः संधि-युग में यही होता है।

काव्य की मूल प्रेरणा रचना-प्रक्रिया का एक जटिल अंग है। और लोगों की बात तो नहीं जानता, पर फिर भी अपने बारे में तो कह ही सकता हूँ कि मैं एक प्रकार के पके हुए अंतर्द्वन्द्व से प्रेरित होकर लिखता हूँ। प्राकृतिक रम्यताएँ, प्रेमपरक अनुभूतियाँ, संवेद-नात्मक विवशता, संघर्ष की वृत्ति और उससे प्राप्त दृष्टि, ऐसे ही जीवन-जगत की विकृतियाँ तथा अन्य न जाने कितनी बातें, मुझे लिखने को विवश करती हैं।

रही रचना-प्रक्रिया की बात। बड़े ही उद्वेलनपूर्ण क्षण होते हैं वे—कष्टकारक; जो कुछ प्रसन्नता, कुछ आत्मविश्वास, और कुछ मेरे जीवन जीने के अर्थों को आलोकित करते हैं। ये ही कुछ क्षण होते हैं जब मैं अधिक से अधिक अपने निकट होता हूँ, जब मैं समस्त असंतुष्टियों के उपरान्त भी ख़ुश हो लेता हूँ। जिन्होंने भोगा है, वे जानते हैं कि रचने का सुख बहुत मूल्यवान होता है।

मेरी दृष्टि में नयी कविता के वास्तविक निर्माण का युग अब आया है। श्री अज्ञेय जिन्हें कुछ विचारक और पाठक आज सम्पूर्ण आधुनिक काव्य-चेतना का अंतिम चरण समझते हैं, संभव है कालांतर में नयी कविता के श्रीधर पाठक बन कर रह जायँ।

मैं अपनी कविताओं के विषय में चाहूँगा कि उन्हें आप प्रयोग-वादी, प्रगतिवादी तथा नयी कविताएँ न मान कर केवल कविताएं ही मानें।

—प्रभातरंजन

द्विधा विवशता और प्रेम

आज मैं श्वेत कमल की एक कली तोड़ कर लाया था।
सोचा,
तुम्हारी राह में रख दूँ
तुम स्नेह से उठा लोगी।
फिर सोचा
अगर कुचल दो तो—
फिर मैंने तुम्हारी राह में कमल नहीं रक्खा।
मेरा हृदय ही जानता है,
मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ;
पर मैं इस पवित्र कमल को
कुचला हुआ नहीं देख सकता।
मेरी इस विवशता को क्षमा करना।

एक सुबह

रात की बारिश :
सुबह की धूप।

प्राची सीमांत पर
रंगीन बादलों के
अनगिनत शिखर उगे दीखे
रथ को राह दी—
फिर चौंधियाने वाले
प्रकाश के पीछे
छुप रहे।

हरे हरे पत्तों पर
किरणों की पाँखें,
तैर गईं।

झिलमिलाता गया,
सुनहरा रूप।

रात की बारिश के बाद की धूप।
गुनगुने कपूरी रंग के
उमड़ते फ़व्वारे में
नन्हीं चिड़ियाएँ देर तक नहाती रहीं।
नयन खुले,
सपने अनगिन झूठे,
टूट गये।
ज्यों बूँदों झलते,
अनगिनत इंद्रधनुष,
टूट गये।

आज शाम

आस्माँ पर
आज शाम,
गुलाबों की पंखुरियाँ कौन बिछा गया है?
पंखुरियों की पंक्तियों पर पंक्तियाँ
लाल, पीले, श्वेत, नीले
गुलाबों की पंखुरियाँ के
झिलमिलाते साये
कौन डाल गया है?
चिकनी पंखुरियाँ
एक पर एक, एक पर एक...
अनगिन फूलों की...
गुलमुहर, चंपा, बेला के रेशे—
कौन बिछा गया है?
शायद, वे अभी दफ़न करके लौटे हैं सूरज को।
कुछ काले हाथ मज़ार पर फूल डाल आये हैं।

शाम का अँधियारा

किसी ऊंची पहाड़ी से—
झलमल बादलों की स्वप्न-पुरी के
परकोटों को छल,
बाँह फैला
उस ओर—
तैर जाऊं।
जहाँ रंगों के बादलों पर,
रोशनी के सोते फूट रहे होंगे।
जहाँ बादलों की मुलायम परतें,
मुझे लपेट लेंगी।
जहाँ सीपियों के
महल होंगे।
जहाँ केसर की झील में,
सफ़ेद हंस तैर रहे होंगे।
पर अभी :
जब एक भारी सन्नाटे के साथ—
अँधियारा फैल जाएगा।
और चील-कौओं का रव—
डूबता रह जाएगा।
तब शायद :
वे ही परतें
मेरे शव पर कफ़न सी
कसी होंगी।

आग

क्षितिज में आग लग गई है,
आकाश का कोना लाल हो गया है,
धुएं के मारे दिशाएं काली पड़ने लग गयी हैं
वह देखो आस्मानी फ़रिश्तों ने धुएं के मारे लालटेनें जला ली हैं
जाड़े से बचने के लिए पुआल सुलगा लिया है
(जिसकी रोशनी दूर से सीमित और पीली दीख रही है)
पुआल की आग धीमे-धीमे मद्धिम हो रही है
कुछ बुझे कोयले उसके बीच दिखाई दे रहे हैं।

रात : पत्थरों का देश ?

पत्थरों का देश
चाँदनी में डूबा,
मौन, फीके मार्ग-दीप
हिम निस्तब्धता—
कोई बड़ा पंखी
    उड़ा,
लमहे को चाँद ढक गया ।
    फिर,
...दूर तैर गया ।
जड़ता...जड़ता...जड़ता ।
बस केवल,
चमकते हैं पत्थर....।

तारों की फुलझड़ियाँ

रात के सीने पर
बूट के
लड़खड़ाते हथौड़े
बजते हैं।
यह चाँद,
(कितना सुंदर है !)
टी० बी० के मरीज़ों के चेहरों की आब लिए
चमकता है;
(धड़ जिसका आकाशी अजगर के मुँह में है)
धज्जियाँ उड़ा हुआ सफ़ेद गोश्त
चाँद पर से तैर जाता है;
कुत्ते क्यों आपस में लड़ते हैं ?
क्यों ?
चारों ओर
चाँद ही चाँद है···
बादल ही बादल हैं···
रात ही रात—
लकवा खाए पेड़,
लट्टू की परिक्रमा से
घूमते हैं
घूमते हैं
घूमते हैं
तारों की फुलझड़ियाँ फूटती हैं
(आह ठंडी शांति
स्वर्ग !)
शून्य···।

जाड़े की भोर का शुक्र

जाड़े की सर्द, ठिठुरी भोर का शुक्र,
राख की लहराती सी चादरों पर,
टिमटिमाता नन्हा सा अंगार...
बर्फ़ीली कंदराओं में,
हिमप्रिया के साथ, बिता रात, उठा,
चला, गुलाबी नयन मींजता,
मद्धम-मद्धम पवन...
देखा, गत रात्रि कंदराओं वाला टिमटिमाता सा
वह चिराग़....
फिर अकस्मात् मुस्कुरा,
कि 'अरे यहाँ कैसे'—
...फूंक मार कर, बुझा दिया।

बर्फ़ीले तीर—सफ़ेद लौ वाली शमाएँ

चाँद सी द्युति,
बुझा-बुझा सा
नीलम आलोक।
क्षितिजों से उमड़े
काले-काले बादल,
वर्षा की आँखों में,
ठंडा-ठंडा काजल...
ठंडी, हिम हुई हवा
रोम-रोम सिहराती हुई
कानों में कुछ
गुनगुनाती हुई
सरहद-सरहद
डूबी...डूब गयी।

एक निस्पंद,
अचल,
मौन-पाथर प्रतिमा,

तकती—
बर्फ़ के तीरों की बारिश...
अनिमेष,
लहराती

उतरतीं,
सफ़ेद लौ वाली अनगिनत शमाएं...।

काले हाथ—

सनसनाते तीर—

एक धैर्यवान छाती—

एक पाथर प्रतिमा--

सफ़ेद लौ वाली अनगिनत शमाएँ।

शंका : शांति

पवन से हिलतीं
वनस्पतियाँ :
शांत, सौम्य,
बरखा जल भरे ताल
चमक-चमक जाते हैं,
सिहर-सिहर जाते हैं,
अस्फुट कुछ गाते हैं।
सब कुछ, उज्ज्वल :
शांत :
चमकीला शीशा,
ज्यों द्युतिमान।
प्रकृति चिरयौवना :
मैं ही क्यों
असम्पृक्त
निरासक्त
रहूं :
दूर से तकूं
दृश्यों से उदासीन
लिए दीट मन
मलिन
तकता ही रहूं,
किस दुविधा में बिंधा ?
क्यों न

मैं भी आऊं,
हरियाली छुऊं :
नन्हीं सी चिड़िया को
टिटिहाते सुनूं,
धुली न्हाई वनस्पति
देखूं :
पत्तों से टपकी
बूंद वह : ओस सी
सिहर कर :
सहूं।
क्यों ? किस दुविधा में ?
मैं यों हीं रहूँ :
हरियाली तो
सब जगह
होगी :
नगर, डगर की सीमा से परे वहाँ भी।

सेमल की उठी बाहें

सेमल की सूखी टहनी—
उठा हाथ ज्यों कहती थी
दे पानी
बदली...बहिनी।
कातर,
सूखी टहनी
सेमल की
यों कहती थी...

...अब
मँडला चुकी चीलें
धूल भी चुकी नाच
झकझोर—
ज़ोर से,
डाल गले में बाँह
पवन सहेली के
भर उठे मेघ हलके
शीतल,
उर में।
अब बरस रहा है पानी
घंटों से
लगातार
एक स्वर में...

भीग रही हैं, मौन, कृतज्ञ
खड़ी
सब, सारी
सेमल बनी।

पीला दिन

दोपहर :
दिन उदास।
पानी में घुलते साबुन से बादल,
धब्बे,
उड़ते हैं, इधर उधर।
पीला दिन—
पीले पत्ते
पीली धूप।
धूप—
छाँव
सड़कें वीरान।
धूप-छांव का खेल
लगातार।
बादल उदास
दिन उदास
गुपचुप धूप-छांव
उदास,
बकरी के बच्चे ये
ज्यों बादल के टुकड़े सड़क पर उतर आये हों।
हिरनौटों से कुछ-कुछ
उदास सड़क पर
घूमते हैं
फुटपाथ की घास सूँघते

बेमतलब
यूंही
बेबात ।
दोपहर :
दिन उदास ।

रोज़ की बातें

फिर-फिर अहं जागा—
वहम जब-जब कोई टूटा।
इस ज़िंदगी के जुए में
धोखा दिया हर शख़्स ने
हर दांव पर लूटा।
पीछे छूटने वालों की अक्सर
बहुत याद आई,
हर टूटने पर आँख पगली
यूंही भर आई
(कितना बचपना,
झूठा।)

पर ये रोज़ की बातें
कोई कब तक इन्हें रोये?
जब सभी ऐसे हैं तो
कोई पाए क्या खोए?
अब टूटने का, छटने का
दुःख नहीं होता,
बंद कर कमरा कभी अब
मैं नहीं रोता।

उस सीमा तक

उस सीमा तक मत जाओ,
सब कुछ मानवीय नहीं होता...।
बहुत कुछ दृष्टि से परे भी रहने दो,
—वह शुभ है।...

सीमा भटकाती है,
झिलमिल-झिलमिल, आगे-आगे ले जाती है,
जहाँ तक हम केवल आधे पहुँच पाते हैं।
आधे : तन का उबाल उन्मादी आवेश लिए कीचड़ में,
धँसे रह जाते हैं।

सीमाएं और भी हैं :
उन्हें दिखलाती हैं।
केवल भटकाती हैं, यहाँ...वहाँ...वहाँ...यहाँ...।
गहरे मत जाओ,
हर स्तर को छूने की कांक्षा मत रक्खो।
कीचड़ है, मौत है, काई है।
कमलों की मुस्कानें : केवल वे ऊपर हैं।
हाँ....
जैसा सब करते हैं तुम भी इन कमलों से समझौता कर लो।
पूर्ण ज्योति के सरोवर में डूबना मत चाहो...
अंधकार गहरा है।
हर ऊर्ध्व चोटी के आस-पास,
खड्ग कोई गहरा है।
...वर्ना जाओ,

घुट-घुट कर सिसक-सिसक, घिसट-घिसट जियो—
पानी की प्यास लगे :
रेत मात्र सत्य लगे—। अंजुली में भर रेती पियो।
बढ़ जाओ, सीमा पर सीमा तक,
तुम्हारी प्रतीक्षा में जहाँ काल ठहरा है।

राह पूछने वालों से

हाँ—राह कुछ ऐसी ही है।
तो—गुफ़ा के बाहर आपको
नये पत्तों से सजा एक पेड़ मिलेगा।
और भीतर—
संसार से अनासक्त
उदासीन
एक बूढ़ा।

जलन का परिणाम

मन अगर की बत्तियों सा जल गया
शीश पर यों,
राख का अंबार
मेरे पल गया
हृदय-मंदिर में सुगंधित प्राण मेरे हो गए
जलन का लो,
सुखद यह
परिणाम मुझको मिल गया।

गुलाब को चबाओ मत

गुलाब बहुत सुन्दर है ।
कभी उसकी नर्म पंखुरियों को
चबाने की
इच्छा भी जगती है ।
पर
चबाने पर सिर्फ़
मुँह का रंग फीका हो जाता है
और स्वाद
तीखा हो जाता है ।
सूंघो,
कोमलता से छुओ भी,
पर,
गुलाब को...
चबाओ मत ।

अब के कवि खद्योत सम

लोग
गाते,
चिल्लाते,
रिरियाते
बतियाते हैं।
झूम झूम जाते हैं।
तारीफ़ें झूठी
करते-करवाते हैं।
न जाने अलाय-बलाय
क्या-क्या
सुनते-सुनाते-सुनवाते हैं।
फीके क़हक़हे लगाते हैं।
नहीं समझ में आता तो
आँखें झपकाते हैं।
मुँह को बिचकाते हैं।
जब कोई नहीं सुनता
चुपचाप चले जाते हैं।
बहुत ही दयनीय
हम
कवि लोग हैं।

आकृतियाँ, विकृतियाँ, आवृतियाँ

बुझी राख-हाँ
बुझी राख-हाँ
बुझी राख की आकृतियाँ हैं ।
कितनी बेबस
कितनी बेबस
कितनी बेबस विकृतियाँ हैं ।
फिर-फिर अपनी,
फिर-फिर अपनी,
फिर-फिर अपनी आवृतियाँ हैं ।
बुझी राख-हाँ
बुझी राख-हाँ,
बुझी राख-हाँ,...।
कितनी बेबस,
कितनी बेबस,
कितनी बेबस,...।
फिर-फिर अपनी,
फिर-फिर अपनी,
फिर-फिर अपनी...।

फूल

फूल जो तुम तोड़ो—
फूल जो मैं तोड़ूं—
फूल जो सब तोड़ें—।
तुम मुझे दो—
मैं तुम्हें दूँ—
सब एक दूसरे को दें।
क्योंकि,
फूलों की सार्थकता
दिए जाने में ही है।
यों कि,
फूलों की सार्थकता
लिए जाने में ही है।
दूसरों को अपना फूल देना अच्छा लगता है।
अपना फूल अपनी मुट्ठी में घुटने लगता है।
और भी तो—
कि हम देने की भाव-गंध में विभोर हो उठते हैं।
हाँ—
यह सम्भव है, कि फूलों में कोई
खिला हो, कोई अधखिला,
कि कोई कमल-कुल हो,
कोई पाटल-वंशी—
कि कोई जुही मुग्धा,
तो कोई कुई भी हो।

पर इसीलिए फूलों की घृणय आलोचना मत करो।
दूसरों से अच्छे फूल लेने में मत डरो।
आओ, आज हम मिल कर मानें—
इस पुराने सत्य को फिर से हम जानें—
कि परस्पर फूल हमें बाँधेंगे।
सब फूलों को मिलाकर हम कुछ नया और साधेंगे
फूल जो तुम तोड़ो—
फूल जो मैं तोड़ूं—
फूल जो सब तोड़ें—।
तुम मुझे दो—
मैं तुम्हें दूँ—
सब एक दूसरे को दें—।

—————

दो स्थितियाँ

अपमान, उपेक्षा,
जी तोड़ मेहनत
फिर
चंद सिक्के,
धुएं भरी कोठरी
(नयी कविता वाला धुआँ !)
पर वे और धुआँ—
रोज़मर्रा के सत्य हैं ।
कटते फेफड़े
खाँसी की आवाज़ें
और यह सब
बाबुओं की, मालिकों की, परमात्मा की
बहुत बड़ी कृपा है ।
... ...
भूख, बेकारी
जीने की लाचारी ।

वे सुन्दर आँखें
रंग, कपोत की पाँखें
पतले गुलाबी ओंठ
बाल...दिल के जाल
(आ...ह !)
निराशा की कविताएं

'चेन-स्मोकिंग'
मृत्यु का भास
चाय देर से मिलने पर
दुनिया की उपेक्षा का आभास
और
धुएं भरे वातावरण से मुक्ति के लिए
अँगरेज़ी सिनेमा
'रोमियो-जूलियट'
या
'हॉलिवुड वर्स्ट'।

———

रक्त—ठंडा और ऊष्ण

तुम जो
शानदार, आबदार
कोठियों में रहते हो
(बैड-टी लेते हो)
कार में उड़ते हो
बार में बहकते हो
और पटरी तले के
मेहनतकश को
इस तरह घूरते हो
गोया, खा जाओगे।
और वह कायर
मूर्ख,
(दया का पात्र)
सहम कर
निगाहें झुका लेता है
अपमान, अवज्ञा को
पंचामृत की तरह
गटक जाता है।
क्योंकि उसकी
नैतिक-निष्टा
आत्म-सम्मान की
भावना भी
तुमने,

दग़ाबाज़ महाजन की तरह
छल से हथियाली है।
और तुम्हारी वे ही
खूंख़ार आँखें
किताबों,
भाषणों,
वक्तव्यों
कविताओं
और लेखों में
उनके लिए
बरस पड़ती हैं।
ख़ूब है।
पर मुझे डर है
कि वे आँखें तुमसे मिलीं अगर
और तुम्हारी खूंख़ार आँखों की आग
उनकी आँखों के ज़रिए
उनकी नीली नसों में
ठंडे बर्फ़ जैसे रक्त में
समो गई;
और उन्होंने तुम्हारा छल
जान लिया....
तो उस रोज़
ये शानदार, आबदार कोठियाँ
ये कार, ये बार
सब ग़ारत हो जाएंगे।
और तुम्हें
इतनी जगह भी नहीं मिलेगी

जहाँ,
तुम्हारे,
सींग समाएंगे।

बड़े बड़े कगारे

एक छोटी-सी लहर
टकराकर,
धक्के खा-खा कर,
फिर-फिर बिफर कर,
काटते-काटते
बहा ले गई आख़िर,
कगारे बड़े-बड़े।

ढालो नए साँचे में

साँसों में लिपटी परछाइयाँ...
रोकती हैं हवा,
दम फूल जाता है,
साँस लेने में बहुत तकलीफ़ है
...क्या करूं मैं ?
नयनों में उलझी परछाइयाँ...
पथरीली चट्टान सी
सामने ही
जाती हैं अड़।
दिखता नहीं कुछ
सिवाय उन परछाइयों के
क्या करूं मैं ?
....
....
.. ..
ओ, मेरी आत्मा के
तरलायित, तप्त
लाल
लोहे—
ढालो...ढालो इन परछाइयों को
अब किसी नये साँचे में—
ये परछाइयाँ
अब नहीं सही जातीं।

ढालो, ढालो,
ओ मेरी आत्मा के उबले लोहे--
इन परछाइयों को
किसी नये साँचे में।

नारी

हाँ-पहले हम दूधिया आभा लिए हुए, सफ़ेद कमल थे।
फिर चूल्हे के धुएं में उबल,
लाल हुए।
और फिर नीले पड़ गए।

सेतु

सेतु रौंदा गया है हर बार।
दोनों ओर से वह—
ठोकरें ही आज तक खाता रहा है,
और फिर भी,
यात्रियों को पार पहुँचाता रहा है।

....

...और अबकी बार भी ओ सेतु मेरे,—
तुम सहो,—
दांत भींचे रहो,—
पेट के बल लेट
यूं ही पीठ पर से पैर रख कर गुज़र जाने दो इन्हें—
इस अनवरत रौंदे जाने में
चाहे तुम एक दिन जर्जर हो
ढह जाओ।
यदि आज ये नहीं...
तो कभी ज़रूर
तुम्हारी ढही काया के स्थान पर
स्मारक बनाएंगे।

जीवन जीने की प्यास

हत आस्था,
लहू में लथपथ,
पराजित सैनिक की
कुहनियों के बल, श्लथ
मृतवत साँप सी रेंगन।
दो बूंदों की हँपहँपाती प्यास—।
—जीवन की,
जिर्जीविपु की,
ऐसी जिर्जीविषा !

अनुभव

अनुभव किया केवल दुःख ही दुःख :
तो ऐसा नहीं, कि
सुख था ही नहीं।
हँसता जब-जब देखा, आज :
अकाज, अनायास, दिखा, उदास मुख पीत, कल :
कहीं न कहीं...।
यों ही दीठ पर से,
हँसती
मलिन हो गयी,...धूप।
देखते-देखते,
दिख गया,
रूप का ही रूप।
चाहते, चाहते
मिट गयी सब चाहना।
यदि कहीं अन्तरित हो भी,
अब नहीं रही वह भावना..।
जीवन की पुस्तक के
खोले ही थे पृष्ठ,—
केवल कल्मषभरी अशुद्धि दिखी।
विधाता, बुद्धि तो जैसी भी दी, मैंने ली, हूँ कृतज्ञ भी,
पर बनने को कठोर : नहीं दिया हृदय, क्यों
चेतना नहीं लिखी ?

सीढ़ियां

तुम एक—
सीढ़ी हो,...
अपनी जगह स्थिर,...जड़,...पथराई हुई,...
किसी एक ऊर्ध्व स्तर तक,
मेरी अन्य सीढ़ियों के साथ
जुड़ी हुई,...
तुम एक सीढ़ी हो...।...

तुमसे मैं,
तुम्हारे बिना जाने हुए,
बार-बार
किसी भी एक
ऊर्ध्व स्तर तक पहुँचता हूँ,
....चाहे वह,
कोई घनी रात हो
या, कोई उजली धूप की सुबह, या दोपहर का दिन,...
इन अनिश्चित दिनों में,
मैं किसी भी वस्तु की तरह,
जब भी किसी एक ऊर्ध्व स्तर से गिरता हूँ....
तब पाँव फिर तुम्हारी ओर बढ़ते हैं...
...क्योंकि वह इस जीवन का एक अर्थ है...।
पर तुम,
तुम तो महज़ एक सीढ़ी हो,
स्थिर, जड़ और पथराई हुई,...

और मैं,

फिर,

तुमसे....

किसी एक अन्य ऊर्ध्व स्तर की ओर बढ़ जाता हूँ...।

फिर एक बार, गिरने के लिए,

एक ऊंची चढ़ाई चढ़ जाता हूँ।...

...मैं फिर भी, तुम्हें प्यार करता हूँ,

हालांकि तुम एक सीढ़ी हो,

मेरी अन्य सीढ़ियों के साथ जुड़ी हुई,

अपनी जगह स्थिर, जड़ और पथराई हुई।

परम्परा

हम सब—
जो हैं,
और जो होंगे
—परम्परा में जीते हैं।
उस परम्परा में
जो हर पुराने के प्रति हर नए के विद्रोह की है।
उस परम्परा में
जो हर बेटे को हर बाप की डाँट की है।
हम सब कहाँ नए हैं?
हम सब परम्परागत हैं!
पर हम सब आवश्यक हैं।
अपना कर्तव्य हैं।
हम सब तो गति हैं जीवन की।
जीवन के प्रति
उत्सकुता,
राग,
संघर्ष का आनंद हैं।
हम सब मिल कर
जीवन की पूर्णता हैं।
जल तो एक ही है,
हम हर रोज़ उसे
नयी तृषा, नये स्वाद, नयी तृप्ति से पीते हैं।
हम सब परम्परा में जीते हैं।

कौए बताते हैं

स्वर्णिम भोर :
कौए
काँव-काँव करते हैं।
—डरते हैं।
आलोक का तेजवान देवता यह
कहीं—
अन्धकार समझ
उन्हें नष्ट न कर दे।
इसी से
जताते हैं,
काँव-काँव करके बताते हैं—
हम अंधकार नहीं हैं।

कविता : एक मनःस्थिति

नीले आसमान पर
सफ़ेद बादलों के गुच्छे
विरक्त चीलों की मँडलाहट,
वर्षा के जल से भरी तलहटियाँ
फीकी धूप—,
मैला रूप—,
यह सब लगता है जैसे...
जैसा है
वैसा ही लगता है
...और क्या !

सौन्दर्य-बोध की बदलती परिभाषाओं के युग में

चाँद का कोना
किस भूखे ने पकड़ कर कुतर डाला।
—ओ रे, ओ, भूखे
पूरे चाँद को ही
न क्यों खा डाला ?
इस बेकार सी वस्तु को
सौन्दर्यबोध की बदलती परिभाषाओं के युग में।

आदिम विश्वास

अब भी हम—
बंद हैं,
इस नीलम पिरामिड में
 —खोखले औ' मृत ।
आज तक केवल हमने
अपने मृत शरीरों के निकट
अन्न औ' स्वर्ण का
महत्व ही जाना है
(मदिरा औ' मृत सुन्दरियों का मोल पहचाना है ।)
आज भी वायुमंडल
अनेक शंकाओं, भ्रांतियों की
मँडलाहटों से व्याप्त है ।
 किन्तु वह आदिम विश्वास
 आज भी ज़िन्दा है
 कि,
 गहरे तम में भटकी हुई आत्माएँ
 मृत शरीरों में एक दिन अवश्य लौटेंगी ।

चरैवेति-चरैवेति

चरैवेति-चरैवेति

टूटे सपने
बौनी आकृति
जलते पेट
बुझती निगाहें
दुखती बाहें
टूटे कंधे अपने लेकर
नगर हाट के
चौराहों से
गलियों से
रुँधती राहों से
सँझा बेला
बुझे हुए चेहरों का मेला,
नभ पर हल्दी
जल्दी जल्दी

चलो-चलो सब
घर की ओर-
धुंए भरे
कुओं की ओर-
घिसट घिसट कर

मरने-मरने

जीवन एक कर्म है--करने।
चरैवेति-चरैवेति
भाई, चरैवेति-चरैवेति।

कैसे देखूं

डूबती साँझ की व्यथा
कैसे देखूं—
इन सहमे उदास पेड़ों को
कैसे देखूं—
इस स्तब्ध अँधियारी को
कैसे देखूं—
यह भयावना एकाकीपन
और सूनी बोझिल शामें
यह घुट-घुट, डूबती स्याह शामें—
पूजा-घंटियों की शून्य कर देने वाली प्रतिध्वनियाँ
झाड़ियों में झींगुरों का अनवरत गुंजन,
नयन-तट से अदृश्य होते पाल
झिलमिलाते दीप—
कैसे ? कैसे ? कैसे ?...मैं
कैसे देखूं !

मथता है हृदय

मथता है हृदय—
आह—,मथता है हृदय,—
पर पाता कुछ कहीं नहीं।
[विफल रिक्त मंथन यह—
पाएंगे प्राण सह ?]
दैवी औ' आसुरी विचारों का संघर्षण,
भावों का नागपाश।

जलन, जलन, जलन,
और नस-नस में जलन और—,!
पिघल-पिघल फैली यह
आग आह कैसी है...
विष-घट क्या भीतर ही टूट गया ?
दहता है अन्तर,
क्या बड़वानल फूट गया ?
गहरे धँसता जाता है फिर कुछ
भारी सा।
लहरों की अँजुरी से फिसल अवश,
फिर कोई मोती क्या छूट गया ?
ऐंठन, उमड़न, घुमड़न,
लहरों की सीसे सी तेज़ धार,
कटता जाता है तट,
ढहते जाते कगार।

मंथन-मंथन
और---
मंथन-मंथन ।—
(विफल रिक्त मंथन यह
पाएंगे प्राण सह ?—)
तमस, तमस, तमस,
और केवल
तमसाकुल,
रोर—।
शोर--- ।
[जाने कब आयेगी शांत मृदल लाल भोर,
और उतर तैरेंगे,
मोती तट पर ?]
नहीं-नहीं---
भोर की प्रतीक्षा
अब दुस्सह है--दुस्सह है-- ।
मथता है हृदय आह
मथता है हृदय-औ'--
निकलता कुछ कहीं नहीं ।

मित्र को पत्र का एक अंश

...और, अब मैं,
इस गहरे नीले नभ सी उदासी और सफ़ेद उड़ते बादलों सी
निःसंगता में,
अपने आप से बात करने लगा हूँ,...
मेरे मित्र,
कुछ समय पूर्व मैंने कहीं पढ़ा था,
—कि यह एक तरह की बीमारी है।
तुम्हारी क्या राय है...?
...कुछ इस तरह,
कि मैं उस समय,
सब कुछ भूल सा जाऊं,
बेबस, थकित ..
बातें संवादात्मक ढंग से होती हैं।
उदाहरणार्थ,...
जब कंठ में ढेर सा धुआं उबाल खाता है,
तब मैं हँसता हुआ,....
कहता हूँ, "वाह मियां-रोओगे, वाह-वाह,
...क्या बचपना है-।..."
और जब बेतहाशा, रंगीन बादलों सी,
खिलखिलाहटें उमड़ी आती हैं,
(हालांकि ऐसा बहुत कम होता है···)
तब मैं, स्वयं को संयत कर
गुरु गंभीर मुद्रा से, बुदबुदाता हुआ,

ख़ुद को डांटता सा,
कहता हूँ, "यह क्या हर वक्त बचपना करते हो जी,
चुप रहो--।..."
अथवा...
...खैर, और भी कुछ इसी तरह की बातें। बातें तमाम हैं;..
...अच्छा,
समय बहुत कम है।
अपना हाल लिखना,
शेष सब कुशल है।
तुम्हारा ही...
'-----'।

एक शाम दो दोस्तों की बातचीत

'दोस्त क्यों ये आँखें नम ?
अच्छा,
कैसी है, कहाँ है, बताओ ज़रा
भई हमसे नहीं देखा जाता
तुम्हारा यह ग़म ।'
'नहीं दोस्त घर में आटा ख़तम
कहाँ आँखें नम ?
यूं ही कुछ कोयला-वोयला पड़ गया
होगा ।'
....
'अच्छा यार मिलेंगे फिर
इस वक्त फ़ुर्सत है कम ।'
....
(वाह रे वाह आदम !)

प्यार : बीसवीं सदी

(१)

एक प्यार वह कि जो
उमगता,
पढ़-पढ़
उपन्यास, कहानी, कविता।
—सजे हुए ड्राइंग रूम,
नए मॉडल की कार
होटल और बार।
'ओः कपूर,
'व्हाट ए वंडरफ़ुल शाट
—शानदार।'
'—मास्टर जी
कैसे लिख लेते हैं
कविता इतनी सुन्दर ?'
(मास्टर जी-
ग़रीब विद्यार्थी,
भावुक, आदर्शों में पले।)
मगर स्वप्न नही पूरे हुए
बहक चले,
'मास्टर जी
चलें वहाँ
मिलते हों अलग रह कर जहाँ
ज़मीं और आस्माँ,...'

....
'भाग गई बेटी'
है अखबारों की सुर्खी
लेकर गहने कपड़े
नगदी
कई हज़ार !
कहते हैं लोग-बाग
कारण था महज़ प्यार ।
(पर...
बेटी फिर वापस
मास्टर जी गिरफ़्तार- ।
'बहकाता है
शरीफ़ों की बहू-बेटियों को
सूअर, नालायक़, मक्कार !'...)

(२)

प्यार-
पाये हैं आज़ाद विचार
मा-बाप ढूंढ़ते हैं किसी रियासत का राजकुमार,
या आई० ए० एस०,
बेटी करती है शॉपिंग, बोटिंग
देखती है सैकिंड शो
'ओह डैडी तुम कितने अच्छे हो-'
(डैडी हैं क़र्ज़दार
कोठी, बावर्ची, माली, शोफ़र, कार-)
घूमती है बेबी (?)
बिगड़े रईसों के संग
मसलन-

(भूतपूर्व) 'राजा सूर्य प्रताप परमार' ।
(कुछ दिन चला यूं ही
कुछ-कुछ मीठा,
तीखा, कुछ नीता
मज़ा, लज़्ज़त,...)
फिर,
आशंका, भय,...
(...एबार्शन या आत्मघात)
...प्यार ।
....

(३)

मुंशी रामाधार,
काम क्लर्की-
तनख्वाह दस-दस,दस बार
बच्चों की संख्या छह-सात ।
पत्नी, कृष, जर्जर, चिड़चिड़ाती,
घर ज्यों नरक का द्वार,
बच्चे बीमार,
दिन भर चीख़ोपुकार,
'मां लगी है भूख'
'आ, खाले मुझे
कट जाए
भवधार-'
मुंशी रामाधार-
तीन बिटियाँ
यौवनवती, सुन्दरी
हीरे की ज्यों मुंदरी

ज्यों घूरे पर पान्नय।—
विवाह के लिए तैयार,
दहेज़, पंद्रह-बीस हज़ार
(इंतज़ार, इंतज़ार, इंतज़ार।)
बग़ल के रईसज़ादे-
(शानदार)
सिनेमा के गाने,
फिर ताक-झाँक-
बिटिया 'रमो'
उम्र अट्ठाईस साल-
(तिल-तिल जला हुआ, झँवराया चेहरा)
पहले तो चंद दिन
माता जी से
हुआ परिचय
फिर बहिन जी से बातचीत
क़िस्से-कहानी की किताबों का आदान-प्रदान,
ख़तोकिताबत।
फिर···फिर···फिर···
··················

रमा बाई—
कोठरी नम्बर अट्ठाईस
खाँसी···
घुटती धुएं की दीवार।
·········· ·····

यह नहीं कि प्यार मर गया है
या सब कुछ बदल गया है।
प्यार ज़िंदा है।

बहुत कुछ वह,
जो कहा नहीं जाता।
घुटता है आदमी इतना
कि,
सहा नहीं जाता-
पर तब भी प्यार कहा नहीं जाता।....
ये आधी गिरतीं, आधी सँभली दीवारें
यह समाज-
इसके मूल्य,
इसकी व्यवस्थाए,
आस्थाएँ...
अर्द्ध सत्य के धुएँ भरे कुएँ में
घुटता, चीख़ता, कराहता समाज।
हमसे, तुमसे, सबसे बना हुआ समाज,
यहाँ प्यार नहीं-
केवल व्यभिचार।

दफ़नाई हुई आत्माओं की वापसी

तरलायति शांति,
संध्या के मुख पर,
आहिस्ता-आहिस्ता छाती हुई--
　　　　(कोई पंछी-प्रिया पिऊ को टेर-टेर बुलाती हुई)
ज्यों मा के हाथ सोये शिशु पर चादर उढ़ाएं...।

मन के सूने उस
गिरजाघर में
आज
कोई घंटों बैठा प्यानो बजाया किया,
　　　　हलके-हलके...
　　　　जैसे भरी हुई गगरी छलके
　　　　दीवारों की दबी खिलाखिलाहटें फैल जाएं...।
और रात हो गयी
(पंछी-प्रिया टेर-टेर सो गई)

फिर मन की गहरी शांत
झील के किनारे से
उन्मन—
कोई बैठा-बैठा
कंकड़ियाँ फेंकता रहा--
एक धीमी सी कँपकँपाहट होती रही
　　　　वृत बने—

फैले—
फैलते गये...
फिर-फिर —
फिर-फिर—
फिर-फिर—
अनायास
खिलखिलाहटें तेज़ हो गईं।
सफ़ेद कोमल उँगलियाँ
सिहरनभरी झील में
तैरती रहीं...
जैसे गगन रेख पर,
पर तैरता,
छोटा-सा, पांखी।
क़ब्रों से श्वेत-वस्त्र आत्माएं
धीमे से उठ आईं,
बहुत पास घिर आईं
फिर वही मुस्कानें
मुस्काईं...।

आओ, आओ
ओ आत्माओ—
ओ चिरपरिचित मुस्कानो
वह दिगंत तक गूंजता
आरपार—
शांत संगीत
आज फिर बज उठा—
तुम्हें जब-जब मैंने दफ़नाया है

हर बार
क़ब्रों पर
एक नन्हीं गुलाबी-सी कली चिटख़ आई है
मेरा ख़ून छलछला आया है
एक ख़ामोश ज़लज़ला आया है
और तुम्हें मैंने फिर-फिर अपनाया है
जब-जब दफ़नाया है।

तुम हो—
तुम मेरी हो,
पीड़ा हो,
प्रेम हो,
या सुख-शांति हो,
जो कुछ हो—
तुम फिर-फिर मुझमें हो,
आओ,
आज मैं तुम्हें अपने अतल में
दफ़नाता हूँ
तुम वहाँ कलियाँ खिलाओगी।

विसर्जित-मैं

शाम : यह,...
तुम...,
तुम मेरे सामने बिखर कर
फैल गई हो —
इन रगों सी।
तुम्हारा रूप : हल्के तैरते रंगीन बादल....
तुम्हारे ओठ
ये रंगीन बादल,
तुम्हारे बाल,
तुम्हारा रंग,
तुम सम्पूर्ण :
ये रंगीन बादल।

अपनी इच्छाओं सा मैं,
(असीम नीलाकाश सी इच्छाए)
विसर्जित हूँ,—
मुट्ठियाँ भर के
एक कागज़ सा : चिंदियाँ बने कागज़ सा
बे पंख हवा में तैरता
(अनेक छोटी-छोटी चिड़ियाएं:)

अभी बिखर जाऊंगा
अँधेरे में खो जाऊंगा
(अँधेरा हो जाऊंगा)

तुम,
बरसाती संध्याओं के दर्द की
रंगीन रेखा—
के
रंगों रची
तुम : तुम मेरे सामने बिखर कर
फैल गई हो....

ये—परछाइयाँ चलती हैं ?

हम नहीं—
ये परछाइयाँ चलती हैं।
हम तो,
पीछे, पीछे, पीछे,
और पीछे छूट जाते हैं।
समय को, इतिहास को, काल को, बनाते हैं।
समय को, इतिहास को, काल को बढ़ाते हैं।
स्वयं घट जाते हैं,
कुछ नहीं पाते हैं।
पीछे, पीछे, पीछे,
और पीछे छूट जाते हैं...।
हम नहीं,
ये परछाइयाँ चलती हैं।

एक मिथ्या समन्वय है जीवन—
भावों का,
परिस्थितियों का,
चेहरों का,
—ख़ुद का।
हम उसको ज़िंदगी भर निभाते हैं।
पीछे, पीछे, पीछे,
और पीछे छूटते ही जाते हैं।
हम नहीं,
ये तो परछाइयाँ चलती हैं।

शाम,—जलपरी और अंधे जल में लड़ता हुआ आदमी

लहरें, बार-बार, बार-बार, आती हैं...।...
लहरें, बार-बार, बार-बार, आती हैं...।...
लहरें, बार-बार, बार-बार, आती हैं।...

याद है वह शाम,
जो एक तप्त गलते लोहे सी
बूंद बूंद मेरी आँखों में टपक रही थी।
और मैं सोच रहा था,
कि सब कुछ चुक जाने के बाद आने वाली ये शामें
कितना गहरा अँधियारा कर जाती हैं,
इन वन खण्डों और इन उदास घाटियों पर,...
...मानों बहुत सा प्रकाश कहीं तैर कर उतर जाता है।
कि अनगिनत दिनों से आने वाली इन शामों में
मैं कितना उदास रहा हूँ,
जैसे वसंत में कोई सुनहली पत्तियों वाला एकाकी वृक्ष...।
सब कुछ एक कितनी पीली उदासी से भरा रहता था।
वृक्षों की हवा से झिलमिलाती पत्तियों पर तिरछा पीला प्रकाश...
एक अजब पीलापन...
चोटी चोटी पर आग भभक उठती थी,...
सब वन खण्डों और घाटियों में
हरिणियाँ दौड़ने लगती थीं,
कितना अद्भुत सामंजस्य था,
ढलते सुनहरे सोने का...

पिघलते लोहे का....
भभकती आग का।
तुझे तो याद होगा,
क्योंकि तू ही तो मुझे उदास बैठा देख,
अपने जलाकाशीय महल में ले आयी थी,
और मैं,
जो अब इन लहरों के आलोड़न में बहुत थक चुका हूँ,
तेरा हाथ पकड़कर बिना सोचे समझे ऊपर उठता चला गया था
याद होगा तुझे—
कि पहले परिचय में मैंने बताया था कि
मैं सूनी संध्याओं का वह अकेला तारा हूँ,
जो इस वन-खंड में कितनी ही
प्रातें और रातें,
आते और जाते देख चुका है।
जिस पर सब कुछ आता है और गुज़र जाता है।
कि बादलों की अनगिनत परतों को
अपनी छाती पर सहने वाला,
मैं सूनी संध्याओं का अकेला तारा हूँ...।
और तेरी आंखों का काजल घुलने लगा था
गुलाबी देह नीली पड़ने लगी थी...।
तूने मेरा हाथ पकड़ा था,
और मैं ऊँचा...ऊँचा और ऊँचा उठता चला गया था।
मैं अपने चारों ओर गूंजती सनसनाहटें सुन सकता था—
या प्रकाश के सैकड़ों रंग-बिरंगे केन्द्रों को
इधर-उधर चकराते देख सकता था।
एक अतीन्द्रिय वातावरण में मुग्ध, कृतज्ञ,
ठंडे जल-फूलों में भाव-विभोर...।

मुझे बार-बार वह शाम याद आती है—
जब धरती रंगों की छाया में हँसी थी।
...और वह...
संगमरमरी बादलों से कुछ
झलमल करते राजमहल...
बहता था सब ओर, आँख पर से
वह कुछ अजीब-सा जल...
मोती, मूंगे उगे हुए थे,
शंख, सिवार सीपियाँ भी।
दप-दप करते जल महलों पर
मढ़ी हुई थीं सीपियाँ-सी...।
सोना-जल, झलमल-झलमल, जल...
सोना-जल, झलमल-झलमल, जल...
सोना-जल, झलमल-झलमल, जल...
लहरें, बार-बार, बार-बार आती हैं...
लहरें, बार-बार, बार-बार आती हैं...
लहरें बार-बार, बार-बार आती हैं...

...हाँ..., और जब तुझे अपने रीति-रिवाज याद आए,
तो तू अपना जलमहल बहा ले गयी...
उन बड़े-बड़े काले चप्पुओं से...।
और अब मैं याद करता हूँ कि
जो वह बहुत सा प्रकाश रोज़ तैर जाता था—
वह तेरा जल-महल था।
अभी-अभी कुछ देर पहले,
हम उफनते गुलाबी बादलों पर तैर रहे थे...
आज इस अतल काले जल में, मैं लथपथ, थके क़दमों से

लहरों को चीरता,
इन भयानक जबड़ों वाले जानवरों से जूझता...
अपनी धरती को याद कर रहा हूँ—
वे दिन याद कर रहा हूँ,
जो बहुत उजले, चमकीले थे,
इस दूर तक लहरती हुई नीलिमा में भी
मुझे उनकी चमक स्पष्ट है,
तब धूप बहुत हँसती थी और रुई बिखर जाती थी,
चमकीले पत्तों से भरे पेड़ हिलते थे,
दूर-दूर कपूरी रोशनी फैली रहती थी,
नभ गहरा नीला था,
श्वेत-बादली स्लेटी पंछी छोटे-छोटे
प्रज्ज्वलित श्वेताग्नि में
सीपियों से चमकते तैर जाते थे...
खरगोशों से बादलों के टुकड़े
पकी-पकी फसलों वाले खेतों में—
छलांगें लगाते थे...।
धरती कितनी अच्छी,...धरती कितनी अच्छी,...धरती कितनी
अच्छी थी..।

...और
तेरे महलों की गूंजती हुई घंटियाँ,
थक कर सो गयी हैं...।
इस अतल जल में अब छायाएँ
और गहरी हो गयी हैं।
मोतियों के बड़े-बड़े प्रकाश-पिण्ड
जिनसे दूधिया रोशनी फूटती थी,
कहाँ है...?...

देख, ओ....
सितारों की इन बरछियों के बीच धुँधलके में,
मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ...।
ये शायद...तेरी अनुचर चाँदी की मछलियाँ हैं...।
मैं उनको गोद में लेना चाहता हूँ...
हथेली में लेकर,
उनके चमकते पंख सहलाना चाहता हूँ—
पर ये हर बार मुझे नोंच ले जाती हैं...।
ये रोशनी की तेज़ बरछियाँ
हर बार मेरे गहरे बिंध रही हैं....
अभी-अभी
मेरी आँखों को चमकते मोती समझ
अपनी स्वामिनी को भेंट करने के लिए,
निकाल ले गई हैं....
(शायद तूने उन्हें नहीं बताया
कि मैं वही आदमी हूँ
जिसको तू एक रोज़ धरती से झटका कर लायी थी...)
और मैं खुश हूँ,
ओ' प्रेमिका...
और मैं खुश हूँ
ओ' नारी...
कि तू देखेगी कि जिन आँखों में
तेरे लिये खुशियाँ छलकी पड़ती थीं
वे आज भी तेरे महलों का नूर हैं।
....मैं अपनी लहू उगलती आँखों से देखता हूँ
अपने पोर-पोर से रिसता हुआ खून,
जो धीमे-धीमे काला पड़ता जा रहा है....।

ओ, आ,....
क्या तू,
सो रही है ?
कि तुझ तक मेरी आवाज़ें नहीं पहुँच पातीं।
या तुझे किसी ने बाँध रक्खा है ?
और तू—
रो रही है—!
अँधियारा बहुत गहरा है,...बहुत...
और तू
आ,
इसी अंधियारे में मुझे कहीं ले चल...
आज तो वह पीली कंदील भी नहीं जल रही हैं,
जिसे मैं धरती से रोज़ जलते हुए देखा करता था।
धरती कितनी अच्छी थी...।...
...ओ उर्वशी...
लहरों की बेड़ियों में आबद्ध
मैं पुरुरवा—
इस अतल जल में पड़ा छटपटा रहा हूँ,
आ, तू मुझे इस अँधेरे में ही कहीं ले चल।
...और...याद रख....
तेरे आने की इस अंतहीन प्रतीक्षा में,
मैं बराबर
इस अंधे जल से लड़ता रहूँगा...
(एक अँधेरे से दूसरे अँधेरे तक बढ़ता रहूँगा...)
....
यह...यह...मेरे चारों ओर
थरथराहट कैसी है...

...थर-थर, थर-थर, थर-थर...

...थर-थर, थर-थर, थर-थर...

...थर-थर, थर-थर, थर-थर...

...लहरें बार-बार, बार-बार, आती हैं...

...लहरें बार-बार, बार-बार, आती हैं...

...लहरें बार-बार, बार-बार, आती हैं...

साँप डसी झील

स्वप्न-खण्ड,
अदृश्य झिलमिलाते परी लोक—
(एक
पतली रेखाओं से चिटखी
बर्फ़ानी झील
  ख़ामोश —।
    कोई साँप जिसे डस गया है...।
    और...
      और...
        अचानक व्योम पर हलका फीका सा इंद्रधनुष
        एक सफ़ेद रेशे वाले बादल को चीरता हुआ...।
    उठते सफ़ेद धुएं सी बर्फ़ की पर्त पर,
    इंद्रधनुष की
        परछाईं ।)
...स्वप्न खण्ड...
खण्ड...खण्ड...।
भय—
पसीने में डूबी
घड़घड़ाहटें,
    लगातार होती बारिश।
मेंहदी की झाड़ियों से ख़ुशबू...।
हवा,
तिरछी बौछारें।

मेंहदी रची कमज़ोर नीली उँगलियाँ।
मैं उनसे दूर हूँ,
बहुत दूर...।
क्या हुआ,
कि मैंने
उन्हें चाहा है।
मैंने,
क्षितिज की
नीली रेखा को भी चाहा है।
पर आज...
उन्हीं कमज़ोर नीली उँगलियों ने,
मुझे बेहद रुलाया है।
मुझे बताओ,
हाँ-मुझे बताओ,
उन्हें कौन सा साँप डस गया है?
वे इतनी सफ़ेद और कमज़ोर क्यों हैं?
......लगातार होती बारिश का बुझता शोर,
एक उतरे हुए सैलाब का गीलापन।
यह सावन
फिर...
फिर...
फिर...
आएगा।
मेंहदी का लाल रंग,
हवा,
तिरछी बौछारें,
भीनी खुशबुएं,

बिखेर जायेगा ।
(उँगलियों की छाप
नयी कर जायगा ।
फिर मुझे कोई साँप
डस जायगा ।)
सावन,
फिर...
फिर...
फिर...
आएगा ।

सूनी घाटी का गीत

सुनसान घाटी,
बहुत ही ख़ामोश—
एक हल्की वायलिन की टीस-सी उठ फैलती
मौन, सब कुछ मौन, गुमसुम—
यह अजब वीरान घाटी।...
कहाँ हूँ मैं?
नयन पर रख हाथ
देखता
वह छोर...
कुहर-भीगी भोर।
और कहाँ हैं वे?
जो पर्वत
अँधेरे वन
गुँजीली सीटियों में—
सरसराती हवा—
बारिश भीगते भी
साथ थे?
उतरे घाटियाँ दर घाटियाँ
पर्वती प्रातः में
पाँव, जिनके झिलमिलाए
चोटियों पर,
साथ ही वन-सूर्य के...।
कहाँ हैं वे आज?

यह भोर है।

साथ के डेरे सभी ख़ाली पड़े—

किस याम

अँधेरे, गए उठ, छोड़

मुझको अकेला...।

यह अकेलापन

विजन...

छोड़ दो......

जाओ......

छोड़ दो।

नहीं कुछ आघात—

गीत बाक़ी हैं अभी मेरे।

नहीं,

अभी और, अभी और, अभी और...

हाँ-उस रोज़—

घाटी शून्य थी,

कुहर-डूबे शिखर थे

और स्लेटी पोखरों से

श्वेत बगुले उड़ गये थे ...।

....

मगर ओ रंगिम तरल बदली,

नीलाम्बर सजी,

शिखर हँसती

तू

मैंने

डूब कर तुझमें

सत्य तेरा पा लिया जब

और देखा
        रुई को,
        फीकी रुई को,
बिखर जाते।
उस रोज़,
पहली बार
कैशोर-कालिक
देह, आत्मा, प्राण, मन का
समर्पण...
        केशर अर्घ्य मेरे हाथ से
        ढलका—
        लुट गया सम्पूर्ण सिंचित धन
        और बरसे भी नहीं तुम घन...।
क्षोभ ?
उपरांत देने के
लुटा देने के ?
नहीं...।
सूनी घाटियाँ...
मन के मोह टूटने पर
        अधूरा मैं
        खोती
        कमल-गंध सा।
कुहर-डूबे शिखर...
बढ़ता ही रहूँगा निरन्तर—
कौन जाने, कौन जाने, कौन-सी
आशा, उमंग, विश्वास पर
मृगों की कुँलाचें देखता—

पार करता जाऊंगा
शिखर, वन, ये नदी, निर्झर
मेघ रीते
झाड़ औ' झंखाड़
सूनी घाटियाँ
गीतों गुँजाता।

उधर कोई विंदु नहीं

ओ इतिहास,
ओ परम्परा,
ओ व्यक्ति,
हम सब कहाँ हैं, एक दूसरे में ?
और हम सब यहाँ क्यों हैं ?
(एक दूसरे से प्रताड़ित)
—हाँ, ये प्रश्न हैं,
और मैं इनका उत्तर भी जानता हूँ,
कि,
हम सब कहीं नहीं हैं।
हम सब अंतहीन हैं, इस प्रवाह में।
हम सब अपने तईं हैं, इन आप्लवनकारी क्षणिक
उछाहों में। तो,—
क्यों ?
ऐसा नहीं कि मैं जानता न होऊं,
मैं जानता हूँ
कि अनन्त लोगों ने सोचा है,
और वे सब के सब आज प्रश्न-चिन्हों की अनगिन
दीवारों के पीछे,
अँधेरे में डूबे हुए हैं,
और एक दिन मैं भी नहीं रहूँगा।
फिर भी जब तक मैं हूँ,
बार-बार पूछूंगा,—कहूँगा—

ओ इतिहास,
ओ परम्परा,
ओ व्यक्ति,
हम सब क्यों हैं एक दूसरे में ?
हम सब कहाँ हैं एक दूसरे में ?
एक दूसरे से प्रताड़ित,......उत्तर है।
इतिहास,
जो महलों, ताजमहलों और पिरामिडों का है
क्या मुझे उत्तर देगा....
कि कितने महल, ताजमहल नहीं बन सके
कि कितनी रूहें भटकती रहीं ?
परम्परा,
जो माँओं, प्रेमिकाओं और चिताओं की है,
क्या मुझे उत्तर देगी,
कि क्यों वह आदिम है,—क्यों रहेगी ?
व्यक्ति,
जो केवल एक आदिम व्यक्ति है
जिसे आप सड़कों, चौराहों पर देख सकते हैं,
कितना सीधा, सरल, सहज,
......पर यहाँ मैं जानता हूँ,
कि मुझे वह कोई उत्तर नहीं दे सकेगा...।
फिर इतिहास
जो महलों, ताजमहलों, पिरामिडों का होगा।
एक जड़ता में फिर निरुत्तर रहेगा।
फिर परम्परा,
जो माँओं, प्रेमिकाओं, चिताओं की होगी।
फिर निरुत्तर होगी।

फिर व्यक्ति,
जो सदैव एक धुला शीशा है।
इन बातों को सोचेगा,
दीवारें खड़ी करेगा,
और फिर अपने पितरों में जा मिलेगा।
ओ,
तुम,
सब,
सच,-जब, कोई नयी काया नव सृष्टि-धर्मा होती है,
तो क्षण को, इन पाशविक यातनाओं का स्मरण कर,
मेरी आत्मा काँप उठती है..।
(पर मैं जानता हूँ,--कि वह, क्षण में नहीं जीती।)
यदि,
ऐसा,
होता ?

यह तेजधर्मा सूर्य,
सदियों से यूं ही आता है।
यह रजत चंद्र
सदियों से यूं ही उगता है।
यह चमचमाते सितारे,
सदियों से यूँ ही उगते हैं।
और ये हम सब
सदियों से यूं ही आते हैं।
मैं जानता हूँ,
कि,
प्रश्न-चिन्हों की उन अनगिन दीवारों के उधर

कोई विंदु नहीं है...।...
इस अंतिम प्रार्थना में,
ओ संदिग्ध ईश्वर,
तुम मुझे बल देना—
कि,
अपनी वृद्धावस्था के अंतिम दिनों में...
मैं अपनी तमाम प्रेम कविताओं,
और
इन बातों को यदि याद करूं,
तो इन पिपासु-प्रश्नों से,
लज्जा और ग्लानि न होऊँ :
और मृत्यु के बाद भी,
मैं, तुझसे दूर होऊँ ।

झिलमिलाती डोरियां

योजनों गहरे...
...जो एक इस अंतरंग सामीप्य का विरोधाभासी है,...
कुंठा के कूपमय घेरे से;
एक लघुवृत्त के आकार में सिमटे हुए, जो
तुम दीखते हो,...
ओ, मेरे सखा...।
ओ, मेरे बन्धु...।
इन लँगड़े, लूले, बौने वक्तव्यों के,
ओ अप्रत्यक्ष अहंवादी वक्ता,...
इन
अपनी, घिघियाहटों, शिशुवत सिसकियों, इन फँसी-फँसी
चीख़ों के,
सृष्टा...।
ओ,
तुम,
रुको,
और सुनो,
जो मैं,
एक झिलमिलाता भविष्य देख रहा हूँ,
कहता हूँ,
कि एक स्थिति है,
जो यह निश्चित करती है कि,
यदि वह प्रतीक्षित, भद्रमुख,

सूर्य,
आया, ।
तो वह केवल इसके कि,
इस अंधतम कूप के सम्पूर्ण वृत्त में,
रोशनी की पतली, मज़बूत, डोरियाँ डाल दे,—
जिससे वह वृत्त आलोकित हो सके,—
—जिसके अवलम्बन से सब बाहर निकल सकें,
—और क्या कर पाएगा--?--
—वह तुम्हारी इन जड़ पंगुताओं को तो,
नये अंग नहीं दे पाएगा ।
—वह तुम्हारी इन हीन भावनाओं के आभास का,
—वह तुम्हारे सीनों में इन रुद्धकारी घुटते बवंडरों का,
नोचते-नोचते
नखों में जम गये उन चीकट अँधेरों का,
वह बेचारा,
क्या कर पाएगा ?

सुनो,—हाँ,
अब मैं कहता हूँ, कि
यदि इतनी कृपा कर सको,
तो उस सम्भाव्य आलोकित वृत्त की करो—
कि अब,
इन फँसी-फँसी चीखों,
इन लँगड़े लूले वक्तव्यों को,
इन रुद्धकारी बवंडरों की फूत्कारों को,
अपनी पूरी शक्ति लगाकर रोक दो—।
हाँ, तुम जो अब,
उस वृत के

अप्रत्यक्ष शत्रु हो—।
इतना मत चीखो—।
कि वह भद्रमुख सभ्य पुरुष,
सूर्य,
इस शिशवत कोलाहल से घबराकर,
यहाँ आना,
सदा के लिए स्थगित करदे—।
तुम तो,
—जो मैं, एक झिलमिलाता
भविष्य देख रहा हूँ,
कहता हूँ,—
कि जब वह प्रतीक्षित, भद्रमुख, सभ्य पुरुष
आएगा,
और घनान्ध वृत में एक झिलमिलाता
आलोक झांक जाएगा,
तब भी,
अपनी आँखों पर जड़ हो गये घने जालों
और धूल की पर्तों के कारण,
तुम उसे न देख सकोगे,
और अनवरत इसी तरह चीखते रहोगे।

—और,—
देखो,
वह झिलमिलाहट,—
देखो,...
—मैं तुम्हें झिझोड़ रहा हूँ,
देखो,
—नहीं,—

अब शायद—
तुम—कभी नहीं देख सकोगे,—
क्योंकि,
तुम तो अब भी चीख़ रहे हो।
मैं तुम्हारी पथराई आँखों में देखता हूँ,
कि तुम उस अलौकिक झिलमिलाहट में,
गूंजती वे नन्हीं घंटियाँ भी नहीं सुन पा रहे हो,
जो देव बालिकाओं के थिरकते नृत्य हैं।

—वह देखो,
वह भद्रमुख, सभ्य पुरुष,
सूर्य,
कूप में अनगिन रंगों की
झिलमिलाती डोरियाँ डाल रहा है।
—देखो,—वह देखो—देख रहे हो—
नहीं—
अब तुम नहीं सुन पाओगे—।
नहीं,
अब तुम नहीं देख पाओगे—।
तुम अब,—
किसी प्राचीन, जड़ परम्परा की की तरह,
पथरा गये हो—।

फिर एक बार जब

मेरे केन्द्र से बिखर कर, मुझसे बिछुड़ जाने वालो,
मुझे विश्वास है,
कि किसी एक विन्दु पर,
हम फिर मिलेंगे।...
सफ़र के दौरान में,
ये किसी एक सम्मिलित गंतव्य तक पहुँचाने वाली ट्रेनें,
जो एक आकस्मिक घटना से बदल गई हैं,
और लगातार दौड़ रही हैं...
किसी एक प्लेटफार्म पर फिर मिलेंगी।
और उनमें से कुछ डिब्बे
इस ट्रेन में,
फिर से जुड़ जाएंगे।...
....मैं सोचता हूँ, कि....
यह ट्रेन,
एक शीत भोर में,
किसी छोटे से 'प्लेटफार्म' पर रुकेगी,
और मैं उतरूंगा।
सवेरे-सवेरे
तुम सब लोगों के दरवाज़े खटखटाऊंगा,
फिर कहूँगा, कि
नमस्कार भद्रमुख सज्जनो,..
क्या आपको मेरी याद है?
क्या आपने मुझे पहचाना?....

संभव हैं कि वे इन आकस्मिक प्रश्नों से कुछ परेशान हों,
और थोड़ा सा आश्चर्य भी करें,
चकित हों,
पर फिर वे मुझे अकस्मात् पहचान लेंगे।...
पर नहीं...
सबसे पहले मैं तुम्हारे घर जाऊंगा,
और तुम्हारे प्रति मुझे विश्वास है, कि
तुम मुझे फ़ौरन पहचान लोगी—
मेरे झुर्रियां पड़े चेहरे और जर्जरित अंगों पर
एक लम्बी यात्रा की थकान और धूल के बावजूद भी...।
(पहचान लोगी न ?)
फिर मैं अभिवादन में कहूँगा 'शुभ प्रभात, आदरणीय महिला,
शुभ प्रभात...'
तुम्हारे चेहरे पर एक थरथराती करुणा उभरेगी-अथवा
वात्सल्य,
या कुछ इन दोनों का मिल-जुला भाव,...
—जो संभव है तुम्हारी आँखों में घना हो आये,
और मैं : बनावटी
व्यस्तता में डूबा हुआ सा, जल्दी-जल्दी कहूँगा-'हाँ-हाँ उस
सफ़र में
हमारी ट्रेनें बदल गयीं थीं।...
...आपकी यह यात्रा कैसी रही ?...
क्या मैं आपके बच्चों से मिल सकता हूँ ?
आपके पति ?...सो रहे हैं ?...
न, न, उन्हें सोने दीजिए।...'
...फिर मैं बच्चों के माथे चूमूंगा,
और अभिवादन करके,

अँधेरे में चला जाऊंगा।...
...क्योंकि मैं तुम्हारी उन घनी आँखों को नहीं
देख पाऊंगा।...

देखा

देखा,
थक गया जब ज्वार,
तट पर अर्थ के नव शंख,—रीती सीपियाँ ले,
पड़ा था बिखरा अधूरा प्यार—।
देखा,
थक गया जब ज्वार—।

—तब उस लहर की ही भाँति,
जो थी प्रवहशीला,
दूर, दूर अछोर……
मैं जो एक बिखरा ज्वार था,
उतरता ही चला आया,
सर झुकाए,
समय के मोती लुटाए,
बालुमय प्रसरण, लहरती, बिछी सी श्वेताग्नि पर,
अर्थच्युत,—सब हार—।
देखा,
थक गया जब ज्वार—।

किसी भी आकाश की गहराइयों को

दर्द यह छोटा सही,—
पर काश एक छोटी जगह को घेरता—।
खुल चुका है पींजरा,
क्यों मौन गुमसुम कीर है ?
—किसी को भी क्यों नहीं अब टेरता—?
खो गयी आवाज़ भी,—
ऊर्ध्वग वह क्यों नहीं उसको फेरता—?
......मेरे अर्थ, मेरी प्राप्ति ओ,
ओ, कांक्षा, जय व्याप्ति ओ,—
दर्द कोई,—
दूसरे से कभी छोटा नहीं होता।
किसी भी संवेदना के किसी भी आकाश की
गहराइयों को
एक सा है घेरता।

तीव्रतम किन्हीं क्षणों में

तीव्रतम किन्हीं क्षणों में,
व्याकुल हृदय,
सहसा मैंने जाना,
कि मैं तुम्हें नहीं—
—अपनी भावना को प्यार करता हूँ ।
तुम उन सब सम्भावनाओं से परे हो,
जो मेरे 'कुछ' की ईहा-पीड़ा हैं ।
(मैं स्वयं भी उन सम्भावनाओं से परे हूँ
जो मेरे 'कुछ' की ईहा-पीड़ा हैं ।)
···कि मैं,
सब कुछ प्राप्त हो जाने के बाद की
एक सालती ठंडी नोंक······
हमेशा महसूस करता रहूँ—।
...और तब भी ओ, तुम इतनी तीव्र हो,
कि सहसा आज मेरी आँखें भर आई हैं ।—
और······मैं, अपनी सभी सम्भावनाओं को प्यार करता हूँ ।

———

दर्शन मे दर्शन तक नहीं

वाणी से वाणी तक नहीं,
हृदय से हृदय तक,
गर्व से गर्व तक नहीं,
कर्म से कर्म तक,
अश्रु से अश्रु तक नहीं,
मर्म से मर्म तक,
मंदिर के मस्जिद तक नहीं,
धर्म से धर्म तक,
दर्शन से दर्शन तक नहीं,
समन्वय से समन्वय तक। ...

यह जो आज इतना हो पाया है हमारा।
सर्वदा हो,
और ओ मित्र !
तुम्हारा भी तो यही—।

रौंदो-रौंदो

रौंदो-रौंदो,
अनवरत मुझे रौंदते हुए निकल जाओ, ओ विचारों के
वाहनो—

रौंदो-रौंदो,
कहीं तो गंतव्य मिलेगा ही,—
—, पचा जाऊं ये सड़ी-गली, दुर्गन्धित, कीटमय खादें,
कभी तो फूल खिलेगा ही—।
(—नहीं—नहीं,
ख़ुद को छलूं ?
सब कुछ पा लेने की, जीत लेने के बाद की यातना को
जानता हूँ।)

और यह भी,
कि कोई गंतव्य,
यात्रा का अंत कभी नहीं होता।
फूल जो खिलता है,
कुम्हलाता है, बासी हो जाता है,
सड़ता है, गलता है,
फिर खाद हो जाता है,...
...कहीं भी अंत नहीं है इन गंतव्यों का, यात्राओं का,
इन सृजन की प्रक्रियाओं का,
मृत्यु की नाटिकाओं का—।
रौंदो-रौंदो;
मुझे अनवरत रौंदते हुए निकलते रहो, जो विचारों के वाहनो।

...रौंदो, रौंदो
ओ विकलांग, बौनी, कुबड़ी आकृतियो।
रौंदो-रौंदो,
ओ रेत के समुन्दरो,
झुकी कमर वाली वृद्धाओ,
रेंगते हुए भिखमंगो।
रौंदो-रौंदो,
अख़बारों की गलितअंगीय ख़बरो,
इन सँकरी गलियों के आकाश—।
रौंदो-रौंदो,
ओ असमय, बूढ़ी आकृतियों के कंकाल छाती पर बैठाए,
पीड़ित बुद्धिजीवियो!
ट्रैफ़िक के से शोर की चीख़ो,
घड़घड़ाहटो,
रौंदो-रौंदो,
अनवरत मुझे रौंदते हुए निकलते रहो,......
क्योंकि,
इस एक दबने के बाद
मेरे इस साँचे से जो मूर्ति निकाली जाएगी,
वह अधिक दृढ़, चमकदार और उभरी हुई होगी—।
रौंदो-रौंदो,
मैं सृजन की अनंत प्रक्रियाओं के साथ जीवित रहूँगा।
तुम मुझे अनवरत रौंदते हुए निकलते रहो, ओ विचारों के
वाहनो!
रौंदो-रौंदो।

मुझे अभी और

मुझे अभी और...
अभी और ..
अभी और
बहुत कहना है।
हर आयाम में
जीवन है अकथ्य पीड़ा एक
अभी उसे
मुझे और सहना है।
मुझे अभी और...
अभी और...
अभी और...
बहुत कहना है।
रेत भरी आँखों में
ज्वलित अग्नि-पुंज
क्षण-क्षण तिल-तिल मुझको
दहना है, दहना है।
मुझे अभी और...
अभी और...
अभी और...
बहुत कहना है।